हिन्दी बाल–साहित्य, सीमाएँ और संभावनाएँ

* आकाश भदौरिया

साहित्यिकों के बीच जैसे ही बाल–साहित्य का संदर्भ आता है सामान्यतः उसके लिए उपेक्षा का भाव होता है। यह मान लिया जाता है कि वह बचकाना साहित्य है। जिसके रचने के लिए किसी विषेश प्रयास की आव यकता नहीं होती। विडम्बना यह है कि इस 'फोबिया' के शिकार केवल वे रचनाकार ही नहीं है जो बाल साहित्य नहीं लिखते बल्कि वे तथाकथित बाल साहित्यकार भी हैं जो निश्चित फार्मूलों का उपयोग करके बात–रचनाओं के परिमाण में वृद्धि पर तुले हैं। इनके लिए बाल–साहित्य का सृजन साधना का नहीं सुविधा का विशय है। बाल साहित्य हम किसे कहें ? सामान्यतः मान लिया जाता है कि वह साहित्य जो बच्चों के लिए लिखा जाए बाल साहित्य है। किन्तु यह तो आधा सत्य है क्या यह मानना अनुचित होगा कि जिस साहित्य को बच्चे पढ़े या जो बच्चों को उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर रुचे वह बाल साहित्य है। आप मान बैठे हैं कि जो बच्चों के लिए आप लिख रहे हैं–जिन मानकों पर लिख रहे हैं वह अंतिम रूप से बाल–साहित्य है। इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर बाल–साहित्य का अम्बार लगा दिया जाता है। किन्तु प्रन यह है कि इस अम्बार के कितने अंश को हमारे बच्चों ने अपनाया– उनके अंतर्मानस में वह घुला मिला! तो पूर्ण सत्य यह है कि बच्चों के लिए लिखा गया वह साहित्य जिसने उनके अंतर्मानस को भाव और कल्पना के इन्द्रधनुशी रंगों से सराबोर कर दिया– उन्हें प्रेरित और प्रभावित किया– बाल–साहित्य है। दूसरे भाब्दों में कहें तो आलम्बन और आश्रय का अद्वैत ही बाल साहित्य की सही पहचान है। निश्चय ही सार्थक बाल–साहित्य बच्चों तक पहुँच पाने में बहुत सी बाधाएँ जिन पर हम बाद में चर्चा करेंगे किन्तु यहां हमारी चर्चा का विशय सार्थक बाल–साहित्य की पहचान है।

इससे पहले कि हम बाल–साहित्य की बात करें तो हमें बाल साहित्यकार के व्यक्तित्व की पड़ताल करनी होगी। दरअसल बाल साहित्यकार का व्यक्तित्व सामान्य साहित्यकार से बहुत हद तक भिन्न होता है। जीवन और जगत् को देखने का उसका नजरिया भी एक भिन्न साँचे में ढला दीख पड़ता है। एक भिन्न व्यक्तित्व और जीवन–दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति ही बाल–साहित्य का सृजन कर सकता है। प्रश्न है कि कैसा व्यक्तित्व और कैसी जीवन–दृष्टि? वस्तुतः बाल–साहित्यकार के अंतर्मानस में निरंतर एक शिशु उसे अपनी उपस्थिति का एहसास दिलाता रहता है। एक ऐसा शिशु जो किलकारी मानकर हँसता है रोता है रूठता है और सम्पूर्ण जगत को अपनी शिशु दृष्टि से देखता और महसूस करता है। एक सूफियाना मस्ती बाल–साहित्यकार की धमनियों में रक्त की भाँति बहती है। यह मस्ती ही उसके बाल–साहित्य की वास्तविक भाक्ति होती है। सार्थक बाल–साहित्य माँग और आपूर्ति के गणित पर नहीं रचा जा सकता। उसकी रचना अनायास और स्वाभाविक होती है। जैसे पर्वत–शिला को फोड़कर जल की धारा अकस्मात प्रवाहित होने लगती है वैसे ही बाल–साहित्य भी अंतर्मानस से अचानक ही फूट पड़ता है। एक कुण्ठित और दिलजला व्यक्ति कभी भी बाल–साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। आयु के अंतराल को पाटकर बाल–साहित्यकार जीवन और जगत् पर वैसे ही दृष्टिपात करता है जैसे एक बच्चा धीरे–धीरे बढ़ता हुआ परिवेश को विस्मय, कौतूहल ओर उल्लास के भाव से ग्रहण करता है इस दृष्टि से देखें तो बाल–साहित्य स्वयं में कठोर साधना है– आयु के अंतराल को लाँघकर बालपन में संक्रमित हो जाने की कठोर साधना।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने लिखा था। ''ज्यो–ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये–नये आवरण चढ़ते जाएँगे त्यों–त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि–कर्म कठिन होता जायेगा''। यों तो उनकी यह अवधारणा कविता मात्र के लिए प्रासंगिक है किन्तु बाल–साहित्य के संदर्भ में इसको विषेश गंभीरता से लेना चाहिए। क्योंकि बड़ों के साहित्य में सभ्यता के आवरणों का उपयोग भी कविता में कर लिया जाता है किन्तु बाल–साहित्य में सभ्यता का कोई आवरण सुकुमार शिशुता को क्षति न पहुँचा सकें इसके लिए रचनाकार को निरंतर प्रतिश्रुत होना पड़ता है। आज के दौर में विज्ञान और तकनीकी जितने विस्फोटक रूप में हमारे बोध को प्रभावित कर रहे हैं। उससे बाल–साहित्य की रचना निश्चय ही बेहद चुनौतीपूर्ण हो गयी है। एक ओर तो सभ्यता के इन आवरणों से बाल–संवेदना को अप्रभावित रखने की समस्या है तो दूसरी ओर इन आवरणों को भाुक्लजी के भाब्दों में ''मूल रूपों और व्यापारों में परिणत करना पड़ता है।'' यदि हम पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित बाल–साहित्य पर एक सामान्य दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि बंदरों, भालुओं, भोरों, हाथियों के मानवीकरण, प्रकृति के बदलते रूपों पर सतही तुकबंदी; परियों के स्वप्न–लोक के दायरे से हमारे बाल–साहित्यकार प्रायः निकलने को तैयार नहीं हैं। तेजी से बदलते बाल–परिवे ा और बाल–अंतर्मानस पर उसके प्रभाव कों उकेरने के लिए जिस सूक्ष्म संवेदना–तंत्र की आव यकता है उसके लिए हमारे बाल–साहित्यकारों को एक नये पड़ाव से सर्जनात्मक पहल करनी होगी। एक ओर रचनाकार को परिवेश के बदलते संदर्भों से बाल–हृदय के रिश्ते का यथार्थ बाल मनोविज्ञान के धरातल पर आत्मसात् करना होगा और दूसरी ओर इस आत्मसात किये गये यथार्थ को बालसुलभ अभिव्यक्ति प्रदान करनी होगी। यह नि चय ही अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर गहरे आत्मानुशासन की अपेक्षा रखता है। बालकों से सीधे संवाद में सक्षम बाल–साहित्य की रचना ने पहले कभी इतनी जटिल चुनौती का सामना किया हो मुझे इसमें संदेह है।

दरअसल बाल–साहित्यकारों को नये सिरे से अपने युग के यथार्थ और बदलते बाल मनोविज्ञान के बीच एक सर्जनात्मक रिश्ता कायम करना होगा। यह सही है कि बच्चे की कुछ अपनी मूल संवेदनाएँ होती हैं जो विज्ञान और तकनीकी के बढ़ते दबावों के बावजूद अपने प्रकृत स्वरूप को बनाए रखती हैं किन्तु रचनाकार उन्हें एक नयी दृश्टि से उकेर कर अपने समय के लिए 'अर्थवान' बनाता है। यहाँ मुझे सर्वेवर की एक कविता 'बेबी का टैंक' याद आ रही है। इस कविता में युद्ध उन्माद को उगलती तकनीकी किस प्रकार बाल–मनोभाव के समक्ष दम तोड़ती है– इसका मर्मस्पर्शी अंकन है– ''एन्टी टैंक रेजीमेंट के/एक फौजी अफसर ने/स्नेह–भरे स्वर में/अपने बच्चों से पूछा–/'बेबी, टैंक कैसा यह लगता है तुमको?'/'पापा बहुत बुरा है,/बिस्कुट लादने की कहीं जगह ही नहीं है इसमें।'/और इतना कहकर/बच्चा खिलौनों की अलमारी से/एक कूकवाली मालगाड़ी उठा लाया,/और उसमें बिस्कुट और लेमनचूस भरकर/फर्श पर चलाने लगा।'' और बच्चे की प्रतिक्रिया पर फौजी अफसर फीकी हँसी–हँसकर कहता है– ''देखो, बेबी अभी से कितना एन्टी टैंक है।'' निस्संदेह इन पंक्तियों को बाल–साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। किन्तु इनमें बालक की मूल संवेदना को युद्ध–तकनीकी की अंहता के सम्मुख खड़ा कर उसे चिंदी–चिंदी बिखर जाते दिखाया

गया है। एंटीटैंक रेजीमेंट का फौजी आफिसर पिता का चेहरा लगाकर बालक की नन्हीं दुनिया को खिलौने टैंक पर दे मारता है और टैंक–फौजी ऑफिसर पिता का अहंकार–सब चूर–चूर हो जाता है। हमारे बाल–साहित्यकार बच्चे की नन्हीं दुनिया पर तो अपना वर्चस्व घोशित करता है– उसको पारम्परिक अभिव्यक्ति देता है किन्तु इस नन्हीं दुनिया के समानांतर खड़ा जो जटिल और भयावह परिवेश है, उससे वह कन्नी काटकर निकल जाता है। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि इस जटिल और भयावह परिवेश से अछूता रहकर या बच्चों को अछूता रखकर बाल–साहित्यकार बच्चों का मनोरंजन और मनः प्रसाद न कर रहे हैं। इस प्रकार का तर्क फार्मूला फिल्मों के निर्माता भी देते हैं। उनका भी मानना है कि वे जीवन की कटु वास्तविकताओं से बचाकर उनको स्वप्नों की दुनिया में ले जाकर उनका मनोरंजन करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या हम अपने बच्चों को भविश्य में आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए उन्हें अभी से तैयार करेंगे या उन्हें परीलोक की स्वप्निलता में बाँधे रखकर भविश्य में एक पलायनवादी पीढ़ी तैयार करेंगे। हमें उनके कच्ची गरी से बचपन को बार–बार भागते–भागते पढ़ते परिवेश के रूबरू खड़ा करके देखना होगा। किन्तु इस प्रतिबद्धता के साथ कि हम परिवे ा की सारी विडम्बनाओं के उमड़ते दबावों के बावजूद इस बचपन को मरने नहीं देंगे। इसके लिए बच्चे को परिवेश से काटकर मनोरंजन परोसाना बंद करना होगा। यह परिवेश बच्चो की सोच, संवेदना और व्यवहार में क्या बदलाव ला रहा है। उसकी गहरी पकड़ सार्थक बाल साहित्य के सृजन की धुरी है। बाल–साहित्यकार को बराबर ध्यान रखना होगा कि इस परिवेश के नकारात्मक दबावों का उसे प्रतिरोध करना है और जो सकारात्मक दबाव हैं उनको अपनी सर्जनशीलता में समाहित करना है। संतोश का विशय है कि इधर के कुछ वर्षों में हमारे बाल–साहित्यकारों ने इस दिशा में सार्थक प्रयास किये हैं। डॉ. सुरेन्द्र विक्रम की ये काव्य–पंक्तियाँ इस दृश्टि से विचारणीय हैं–

''इक ऐसी तरकीब सुझाओं तुम कम्प्यूटर भैया।
बस्ते का कुछ बोझ घटाओं तुम कम्प्यूटर भैया।।''

यहाँ कम्प्यूटरीकरण के इस दौर को कवि ने छुआ अवश्य है किंतु उसे उसने यंत्र नहीं रहने दिया है बल्कि वह बालकर का 'भैया' बन गया है जिससे वह अपने मन की बात कह सकता है अपनी कठिनाई का दुखड़ा रो सकता है। बालक की कठिनाई यह है कि वह किताबों से लदे–फदे भारी बस्ते को स्कूल ढोकर ले जाता है। सुकुमार नन्हीं–सी जान और उस पर सवार यह भारी भरकम बस्ता। अब बालक अपनी व्यथा किससे कहे। वह उसी से तो कहेगा जो उसकी कठिनाई दूर करने में कुछ मदद कर सके। वह सीधा 'कम्प्यूटर भैया' को गुहारता है कि इस बस्ते का बोझ कम करो। यहां एक ओर तो एक यंत्र का मानवीकरण है और दूसरी ओर बालक से उसका आत्मीय संवाद और तीसरी ओर कम्प्यूटर की इस क्षमता का रेखांकन कि वह बच्चों के भारी बस्ते का बोझ घटा सकने में सक्षम है। वस्तुतः जो कुछ अमानवीय है उसमें मानवीयता की प्रतिष्ठा करना आज की सर्जना के लिए सबसे बड़ी चुनौती है और बाल–साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। एकदम सपाट–इकहरा और स्वप्नों–फैण्टेसियों की चाशनी में डुबोया बाल–साहित्य एक ओर से उभरता और दूसरी ओर काल–देवता द्वारा रद्द किये जाने लगा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमने बाल–साहित्य को फैशन की तरह आने–जाने वाला स्वीकार कर लिया है। बाल–साहित्य भी कालजयी हो सकता है इस दृश्टि से हमारे अधिकांश बाल साहित्यकार यथेश्ट आत्मवि वास नहीं जुटा पाये। उसे कालजीवी मान लेना एक नियति की तरह स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु क्या ऐसा नहीं है कि हम आप अपनी प्रौढ़ वय में भी कई बार उन कविताओं को गुनगुना लिया करते हैं जिनके साथ हमारा बचपन किशोरावस्था में तब्दील हुआ था। हमारे बाल–साहित्य में कितना ऐसा है जिसके विशय में यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वह बच्चों के अंतर्मानस को स्थायी रूप से जकड़ पाने में सक्षम है।

बाल–साहित्य आज के दौर में पहले से ज्यादा प्रासंगिक है। उसकी आवश्यकता का दायरा पहने की अपेक्षा ज्यादा विस्तृत है। उपभोक्ता मूलक संस्कृति के इस दौर में हम अपने समाज को बीमार समाज में तब्दील होते हुए देख रहे हैं। 70 साल का वृद्ध 5 साल की बच्ची से, पिता अपनी पुत्री से सुसर अपनी बहू से बलात्कार कर देता है। अखबार ऐसे घृणित समाचारों से भरे पड़े हैं। टुकड़े–टुकड़े लाशें बोरों में बंद मिलती हैं धर्म गुरु, स्वनाम धन्य नेता कदाचार में लिप्त पाए जाते हैं। हममें यह सब अखबारों में पढ़कर, टी.वी. पर देखकर कोई घरघराहट नहीं होती–भीतर कुछ नहीं धधकता। क्या कदाचार करने वालों की बढ़ती संख्या और उनके प्रति कदाचार भोगने वालों का प्रतिक्रिया हीन पथराया हुआ व्यवहार क्या एक बीमार समाज का पर्याय नहीं? यह समाज का प्रतिक्रिया हीन पथराया हुआ व्यवहार क्या एक बीमार समाज का पर्याय नहीं? यह समाज तीन रोगों से ग्रस्त है– कामुकता, हिंसा और स्वार्थ। इन रोगों का मूलभूत कारण भाायद यह हे कि रोगियों के हृदय संवेदना शून्य हो गये हैं। इनके हृदयों में एक बचपन मौजूद रहता था जो इनकी संवेदनाओं को आवश्यक तरलता प्रदान करता रहता था। यह बचपन प्रकृति की भाँति सहज और निष्छल था। यदि हमें इस रोगी समाज (जिसमें कदाचार के कर्ता भी भाामिल है और उपभोक्ता भी) को स्वस्थ बनाना है तो हमें इनके उस बचपन को जगाना होगा जो वासनाओं, कुण्ठाओं, वर्जनाओं की अनेक बदबूदार परतों के नीचे अचेत प्रायः पड़ा है। इस बचपन को जगाने के लिए उस साहित्य के व्यापक प्रसार की आव यकता है जिसे हम बाल–साहित्य कहते हैं। दूसरे भाब्दों में कहें तो पाठक के कृति तक पहुँचने की प्रतीक्षा करने की बजाय कृति ही हर छोटे बड़े पाठक के पास पहुँच जाए। इस बाजार–केंन्द्रित व्यवस्था में यदि साहित्य को अपना अस्तित्व बचाए रखना है तो उसे अनिवार्य रूप से अपनी वाचिक परम्परओं से जुड़ना होगा और बाल–साहित्य के लिए तो इसके अलावा कोई विकल्प ही नहीं है। रवि बाबू की एक अत्यंत मर्मस्पर्शी कविता मन में कौंध गयी–''बड़ बड़ रुल काटा कागज/नश्ट बाबा करेन ना किरोज?/आमी यदि नौका करते चाई/अमनी बलो–कश्ट करते नाई/सादा कागज कालो/करले बुझी भालो?''बच्चा माँ से नाव बनाने के लिए कागज माँगता है तो बहन कहती है कि कागज बरबाद न करना चाहिए। बच्चा कहता है कि लकीर वाले बड़े–बड़े कागज क्या बाबूजी बरबाद नहीं करते? क्यों माँ क्या सफेद कागज को काला करना ही अच्छा होता है? बालक जो कागज की नाव बनाकर जीवन से सीधा जुड़ रहा है उसकी सफेद कागज काले करते अपने पिता पर खीझ क्या हमें एक बृहद् अर्थ की ओर नहीं ले जाती? दरअसल हमारे बाल–साहित्य को अपने समय, जीवन और परिवेष से सीधे प्राण–रस लेना होगा। बाल–अंतर्मानास को समूचेपन के साथ समझना होगा। नयी संवेदना और नये शिल्प से लैस होना होगा– कुल मिलाकर कहें तो हमारे बाल–साहित्य बाल–मनोविज्ञान के साथ बाल–जीवन भी धड़कना चाहिए। यदि हम ऐसा न कर सके तो बच्चे समवेत स्वर में हमसे पूछेंगे–

'सःदा कागज कालो
करले बुझी भालो?''